सर्वेश्वर और मानव–मूल्य

*डॉ. प्रतिभा शुक्ला

मैं जानता हूँ
क्या हुआ तुम्हारी लंगोटी का,
उत्सवों में अधिकारियों के
बिल्ले बनाने के काम आ गयी,
भीड़ से बचकर
एक सम्मानित विशेष द्वार से,
आखिर वे उसी के सहारे ही तो जा सकते थे।
और तुम्हारी लाठी?
उसी को टेककर चल रहीं
एक बिगड़ी दिमाग डगमगाती सत्ता।
और तुम्हारा चश्मा?
इतने दिनों हर कोई
उसे ही लगाकर
दिखाता रहा हैं अन्धों को करिश्मा।
तुम्हारी चप्पल?
गरीबों की चांद गंजी
करने के काम आ रही है।

और घड़ी?

देश के नब्ज़ की तरह बन्द है।

अच्छा हुआ

तुम चले गये

अन्यथा तुम्हारे तन का

ये जननायक क्या करते

पता नहीं ?[1]

सर्वेश्वर की इस ''पंचधातु'' रचना को पढ़ने–सुनने के बाद आज हम कहाँ कैसे और किस प्रकार जी रहे है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। पिछले 60–70 वर्षों में यदि किसी क्षेत्र में सर्वाधिक ह्रास हुआ है, मानवीय मूल्य। आज विश्व के सभी देशों के धर्म ओर विभिन्न संगठन मूल्यों की पुनस्थापना के लिए प्रयत्नाशील हैं, फिर भी अराजकता, अत्याचार, अनाचार और भ्रष्टाचार का ग्राफ बढ़ता ही जा रहा है। इस मूल्यहीनता से धर्म, समाज, शिक्षा, राजनीति आदि सभी क्षेत्र प्रभावित हुए हैं।

समस्त मानवीय आचार–विचार के वे क्रिया–कलाप जो मानव जीवन को समुन्नत एवं अनुशासित करते हैं – उन्हें ''मूल्य'' कहते हैं। भावना प्रधान मूल्य अर्थात् विचार साहित्य में ''रस'' रूप में प्रणत होते हैं। आचार अर्थात् क्रिया प्रधान मूल्य मनुष्य के व्यवहार से संबंधित होते हैं।[2] ये आचार–विचार प्रायः प्रत्येक युग में, प्रत्येक देश में, प्रत्येक काल में, भिन्न–भिन्न होते है, किन्तु कुछ ऐसे भी मूल्य होते है– जो शाश्वत और सार्वजनीन होते हैं। इन मूल्यों को ''यूनिवर्सल वैल्यू'' (Universal Value) अर्थात् ''वैश्विक मूल्य'' कहते है। ये सत्य तथा सर्वदा विद्यमान रहते है। ये वैश्विक मूल्य है। सत्य, प्रेम, शान्ति, अहिंसा और सहयोग।

प्राचीन काल से ही मनुष्यों में मूल्यों की स्थापना का कार्य शिक्षा एवं साहित्य करता आया है। शिक्षा का अर्थ ही है – संस्कारित करना, परिष्कार करना, सीखना, अधिगम आदि। मानवीय मूल्यों का अर्जन शिक्षा एवं परिवेश से होता है। ये खरीदे नहीं जा सकते, क्योंकि मूल्य खरीदने की वस्तु न होकर संस्कारों और परिवेश से उत्पन्न होने वाले घटक हैं। मानवीय मूल्यों के प्रति प्रत्येक शिविर और प्रत्येक धारा में उभरकर आने वाली यह आस्था।

स्वयं पर मेरी आस्था

इतनी छोटी नहीं है,

कि वह ईश्वर के कंधों पर बैठकर

इन पहाड़ियों के पार देख सके।[3]

यह आस्था हमारी उस स्थापना को सिद्ध करती हैं, कि इस संकट की घड़ी में भी मनुष्य हारा नहीं है, बल्कि उसने उसका प्रत्युत्तर और अधिक सबलता एवं दृढ़ता से दिया हैं–

नहीं नहीं प्रभु तुमसे।

शक्ति नहीं मांगूँगा।

अर्जित करूँगा उसे मरकर, बीखकर

आज नहीं कल सही आऊँगा उभकर

कुचल भी गया तो लज्जा किस बात की

रोकूँगा पहाड़ गिरता

शरण नहीं मागूँगा

नहीं नहीं प्रभु तुमसे

शक्ति नहीं मागूँगा।[4]

दिनोंदिन उसने और भी सशक्त स्वरों में घोषित किया है कि वह प्रगति का सूत्र है और इतिहास का निर्माता है। उसकी यह यात्रा सरल नहीं रही है, किन्तु सेसिलाडे ल्यूइस के शब्दों में उसने –''निराशा में से जिन्दगी की चिनगारी ढूँढी है और इस्पात के गीत गाये है।'' सर्वेश्वर जी के शब्दों में–

दुख तुम्हें क्या तोड़ेगा

तुम दुख को तोड़ दो,

केवल अपनी आँखे

औरों के सपनों से जोड़ दो।[5]

कोई भी साहित्यिक कृत्ति या धारा अपने में निरपेक्ष निस्संग, असम्पृक्त कृत्ति या धारा नहीं होती, उसके पीछे एक लम्बी काव्य–यात्रा होती है। वह काव्य परम्परा किसी विशेष जाति या समाज के बहुमुखी सांस्कृतिक कृतित्व का एक अंग मात्र होती है। उसके पीछे उस जाति के सुख–दुख, संघर्ष–समन्वय, चिंतन और अनुभूति के सैकड़ों और हजारों वर्ष के इतिहास की संचित परम्परा रहती है, साहित्य का कर्ता व्यक्ति होता है और व्यक्ति समाज का ही एक अंग होता है। वह समाज से ही साहित्यिक सृजन की प्रेरणा एवं विचार ग्रहण करता है। साहित्यकार चाहे अथवा न चाहे, वह समाज से अनवरत् प्रभावित एवं प्रेरित होता रहता है। साहित्य का लक्ष्य ही मानव की अन्तः प्रकृति का परिष्कार करते हुए उसमें सद्वृतियों का संचार करते हुए चित्त प्रसादन करना है। आनन्द प्रदान करना यदि साहित्य की सफलता है तो मानव मन का उन्नयन ही उसकी सार्थकता है। कहा भी गया है। 'Literature is the brain of humanity' 'अर्थात् साहित्य समस्त चिन्तन–मनन, एवं अनुभव अनुभूति का संगृहीत रूप है।

इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि साहित्य ने किसी प्रकार अपनी महान क्रान्तिकारी विचारधाराओं और मानवीय मूल्यों के द्वारा समाज का आमूल ढांचा ही परिवर्तित कर दिया है। भारतीय समाज की परिस्थितियों को तत्कालीन हिन्दी साहित्य ने युगानुरूप प्रभावित एवं प्रेरित किया हैं। युग चाहे वीरगाथा काल रहा हो भक्ति काल रहा हो या फिर आधुनिक काल। प्रत्येक काल में समाज के तत्कालीन मूल्य पूर्ण अर्थवत्ता एवं प्रभावोत्पादकता से साहित्य में प्रतिध्वनित हुए हैं। वर्ग–संघर्ष, शोषण, गरीबी, युद्ध, परतन्त्रता, सत्य, अहिंसा, सहयोग आदि को साहित्य में परिवर्तित जीवन मूल्यों के साथ सर्वेश्वर जी ने अपनी कविता ''कल और आज'' में बड़ी तल्खी से प्रस्तुत किया है।

पहले दाल में काला था कुछ

अब काले में दाल है,
फिर भी दुनिया जीम रही है
हमको यही मलाल है।
पहले दाढ़ी में तिनका था
अब तिनके में दाढ़ी है,
चोर–चोर सब नाच रहे हैं
कैसी विपदा बाढ़ीं है।
पहले ढ़ोल में पोल सुना था
अब हर पोल ही ढोल है,
अन्यायी का पौबारा है
न्याय का पत्ता गोल हैं।
पहले नेता ही टोपी थी
अब टोपी ही नेता हैं,
जो इसको पूजे पूजवाये
बैठ के अण्डे सेता हैं।
पहले राम से सीता छोड़ी
इक धोबी के कहने पर,
अबके राम गधा न छोड़े
लाख दुलत्ती सहने पर।
पहले दुनिया बदला करती थी
छोटी–सी बात से,
अब तो इसको बदल न पाओगें
जूते और लात से।
मंत्र जपा करते थे पहले
अन्त समय में शान्ति के,
अब तो जन्म के पहले

नारे देने होगें क्रान्ति के।[6]

इस कविता के आधार पर कहा जा सकता है, यदि हम मानवीय मूल्यों के सन्दर्भ में साहित्य को नहीं समझते तो हम एक ऐसे असत्य प्रतिमान योजना को प्रश्रय देने लगते हैं कि सारे साहित्यिक अभियान गलत दिशाओं में मुड़ जाते हैं। हम चाहे परम्परा का मूल्यांकन कर रहे हों, चाहें सामाजिक उपादेयता का मापन कर रहे हों, यदि हम उसके आधार–मानवीय मूल्यों से स्खलित होते हैं, तो हम साहित्य के मर्म ओर तथ्य को नहीं समझ सकते। केवल साहित्य के बाह्य रूप को ही टटोल कर रह जाते हैं।

अहले खरात ने क्या दिन दिखलाए।

घट गये इंसान, बढ़ गए साए।।

मानवीय मूल्यों के आधार पर साहित्य को वर्तमान सन्दर्भ में समझने की आवश्यकता आज अनिवार्य हो गयी हैं, क्योंकि–

फ़रिश्ते से बेहतर है, इंसान बनना।

गर इसमें पड़ती है, मेहनत, जियादा।।

***व्याख्याता**
हिन्दी विभाग
राजकीय महाविद्यालय, किशनगढ़
अजमेर (राज.)

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना – गर्म हवाएँ, पृ. सं. 109
2. डॉ. धर्मवीर भारती – मानव मूल्य और साहित्य, पृ. सं. 168
3. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना – गर्म हवाएँ, पृ. सं. 27–28
4. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना – कुआनो नदी, पृ. सं. 130
5. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना – गर्म हवाएँ, पृ. सं. 45
6. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना – कुआनो नदी, पृ. सं. 38
7. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना – कोई मेरे साथ चले, पृ. सं. 86–87